प्रथम वर्ष की विषय-सूची

समन्वय

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
—गीता।

वर्ष १] सौर माघ, सं० १९७८ [अङ्क १

मङ्गलाचरण

(साहित्यशास्त्री पं० रामप्रसाद पाण्डेय, विशारद)

विश्व बीच जो विविध वस्तु में एक लखाता,
द्रष्टा दृश्य अभिन्न मानना जो सिखलाता,
पूजक पूजा पूजनीय एक ही बताता,
सेवक सेवा सेवनीय में भेद न पाता,
ऐसे अनुपम सुविचारमणि, जो देता है क्षेम से,
उस रामकृष्ण की जय सदा, बोलो पाठक प्रेम से ॥

विशद विशुद्ध विचार-निधान,
परमानन्द-कन्द मतिमान,
ज्ञानमान धीमान सुजान,
जयति विवेकानन्द महान ।

—'कुसुम'

समन्वय का ध्येय ।

भारत की प्राचीन कथायें एक देवतुल्य जाति के अलौकिक उद्यम, विचित्र चेष्टा, असीम उत्साह, अप्रतिहत शक्तिसमूह, इन सबसे बढ़कर, अत्यन्त गंभीर चिन्ताओं से परिपूर्ण हैं। राजे रजवाड़ों की कथायें और उनके काम क्रोध व्यसनादि के द्वारा कुछ समय के लिये डँवाडोल और उनकी सुचेष्टा या कुचेष्टा से रंग बदलते हुए सामाजिक चित्र प्राचीन भारत के इतिहास में सम्भवतः है ही नहीं। किन्तु भूख प्यास, काम क्रोध आदि से परिचालित, सौन्दर्य की तृष्णा से आकृष्ट, महान अप्रतिहत-बुद्धि, नाना प्रकार के भावों से युक्त एक बहुत बड़े जनसंघ ने प्रायः सभ्यता के आरम्भ से ही भिन्न भिन्न प्रकारके पथों का अवलम्बन कर पूर्णता की अवस्था को प्राप्त किया। भारत के धर्मग्रन्थ, काव्यसमुद्र, दर्शनशास्त्र और विविध वैज्ञानिक पुस्तकें, राजादि पुरुषविशेषों के वर्णन से युक्त पुस्तकों की अपेक्षा लाखों गुना अधिक स्पष्ट भाव से भारत के अभ्युदय के क्रम-विकाश का गुणगान अपने प्रत्येक पद और पंक्ति से कर रही हैं। प्राचीन भारतवासियों ने प्रकृति के साथ युग-युगान्तरव्यापी संग्राम में जो असंख्य जय-पताकायें संग्रह की थीं वे झंझावात के झकोरे में पड़कर जीर्ण होती हुई भी भारत के अतीत गौरव की जय-घोषणा कर रही हैं।

आर्य मध्य एशिया, उत्तर यूरोप अथवा सुमेरु पहाड़के निकट-वर्ती बर्फीले प्रदेशों से भारत-भूमि में पधारे अथवा यही पवित्र तीर्थ उनकी जन्मभूमि थी—इसके निश्चय करने का अब तक भी कोई साधन उपलब्ध नहीं है। अथवा, भारतवर्ष की ही, या भारतवर्ष की सीमा के बाहर किसी देश में रहनेवाली एक विराट् जाति ने नैसर्गिक नियम के अनुसार स्थानभ्रष्ट होकर यूरोपादि देशों में उपनिवेश स्थापित किये—और इस जाति के मनुष्यों का रंग सफेद था या काला, आँखें नीली थीं या काली, बाल सुनहरे थे या काले—इन बातों को निश्चयात्मक रूप से जानने के लिये कतिपय यूरोपीय भाषाओं के साथ संस्कृत भाषा के सादृश्य के अतिरिक्त कोई यथेष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। वर्तमान भारतवासी उस विराट् जाति के मनुष्यों के ही वंशज हैं या नहीं अथवा भारत की किस जाति में किस परिमाण में उनका रक्त है; इन प्रश्नों की भी मीमांसा सहज नहीं है।

इन प्रश्नों की अनिश्चित मीमांसा भी हमारी विशेष क्षति नहीं करती। पर एक बात ध्यान में रखनी होगी, वह यह कि जो जातियां सभ्यता-सूर्य की रश्मियों से प्रफुल्लित हुई और जिन देशों में विचारशीलता का पूर्ण विकाश हुआ उन जातियों और स्थानों में अब भी उनके लाखों वंशज—मानसपुत्र—उनके ही विचारों से युक्त मौजूद हैं। नदी, पर्वत और समुद्र लांघ, देशकाल की बाधाओं को तुच्छ बना-कर, स्पष्ट अथवा अज्ञात अनिर्वचनीय सूत्र से भारतीय विचारों की रुधिरधारा धरातल पर रहनेवाली अन्य जातियों की नसों में बही और अब भी बह रही है।

शायद हमारे हिस्से में सार्वभौमिक पैतृक सम्पत्ति का कुछ अधिक अंश है।

भूमध्य सागर के पूर्वकी ओर सुन्दर द्वीपमाला-परिवेष्टित, प्रकृति के सौन्दर्य से विभूषित एक छोटे देश में, थोड़े किन्तु सर्वाङ्ग-सुन्दर, सुगठित, मजबूत, अटल अध्यवसायी, पार्थिव सौन्दर्य-सृष्टि के एकाधिराज, अपूर्व क्रिया-शील, प्रतिभाशाली मनुष्यों की एक जाति थी। अन्य प्राचीन जातियां उनको

"यवन" कहती थीं। किन्तु वे अपने को "ग्रीक" कहते थे। मानवी इतिहास में ये थोड़े अलौकिक वीरोंवाली जाति एक अपूर्व दृष्टान्त है। जिस देश के मनुष्यों ने पार्थिव विद्या, समाजनीति, युद्धनीति, देश-शासन, भास्कर्य आदि शिल्प में उन्नति की है या जहां अब भी उन्नति हो रही है, वहां ग्रीस की ही छाया पड़ी है। प्राचीन कालकी बात छोड़ दीजिये, आधुनिक समय में भी आधी शताब्दी से इन यवन गुरुओं का पादानुसरण कर के यूरोपीय साहित्य के द्वारा जो ग्रीसवालों का प्रकाश आया है, उसी प्रकाश से अपने गृहों को उज्ज्वल करके आधुनिक बङ्गाली अभिमान और स्पर्द्धा अनुभव कर रहे हैं।

समग्र यूरोप आज सब विषयोंमें प्राचीन ग्रीस का छात्र और उत्तराधिकारी है; यहां तक कि, एक इङ्गलैंण्ड के विद्वान ने कहा भी है, "जो कुछ प्रकृति ने उत्पन्न नहीं किया है, वह ग्रीस-वालों की सृष्टि है।"

सुदूरस्थित विभिन्न पर्वतों से उत्पन्न इन दो महानदों (भारतीय और ग्रीक) का संगम हुआ; और जब कभी इस प्रकार का संगम होता है, तब जनसमाज में एक महा आध्यात्मिक तरंग उठ-कर सभ्यता की रेखा का दूर दूर तक विस्तार करती है और मानव-समाज में भ्रातृत्व-बन्धन को दृढ़ कर देती है।

अत्यन्त प्राचीन काल में एक बार भारतीय दर्शन-विद्या ग्रीक उत्साह के साथ मिलकर रूमी ईरानी प्रभृति शक्तिशाली जातियों के अभ्युदय में सहायक हुई। सिकन्दर शाह के दिग्विजय के पश्चात् इन दोनों महा जल-प्रपातों के संघर्ष ने मसीही आदि आध्यात्मिक तरंग से प्रायः अर्द्ध भूभाग को प्लावित किया। पुनः इस प्रकार के मिश्रण से अरब का अभ्युदय हुआ, जिससे आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की नींव पड़ी। ऐसा जान

पड़ता है कि वर्तमान समय में भी पुनः इन दो महाशक्तियों का सम्मिलन-काल उपस्थित हुआ है।

इस बार इसका केन्द्र भारतवर्ष है। भारतकी वायु शान्ति-प्रधान है, यवनों की प्रकृति शक्ति-प्रधान है; एक गम्भीर चिन्ता-शील है, दूसरी अदम्य कार्यशील; एक का मूलमंत्र है 'त्याग,' दूसरी का 'भोग'; एक की सब चेष्टायें भीतर की ओर हैं, दूसरी की बाहर की ओर; एककी प्रायः सब विद्यायें आध्यात्मिक हैं, दूसरी की आधिभौतिक; एक मोक्ष की अभिला-षिणी है, दूसरी स्वाधीनता को प्यार करती है; एक इस संसार के सुख प्राप्त करने में निरुत्साह है, और दूसरी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने में सचेष्ट है। एक नित्य सुख की आशा में इस लोक के अनित्य सुख को उपेक्षा करती है, दूसरी नित्य सुख में शंका करके अथवा उसको दूर जानकर यथासम्भव ऐहिक सुख प्राप्त करने में उद्यत रहती है। इस युग में पूर्वोक्त दोनों ही जातियों का तो लोप हो गया है, केवल उनके शारीरिक अथवा मानसिक सन्तान ही वर्त्तमान हैं।

यूरोप, अमेरिका-वाली यवनों की समुन्नत मुखोज्ज्वलकारी सन्तान हैं; पर दुःख है कि आधुनिक भारतवासी प्राचीन आर्य कुल के गौरव नहीं हैं।

किन्तु राख से ढकी हुई अग्नि के समान इन आधुनिक भारत-वासियों में भी छिपी पैतृक शक्ति अब भी विद्यमान है। यथा-समय, महाशक्ति की कृपा से उसका पुनः स्फुरण होगा।

प्रस्फुरित होकर क्या होगा?

क्या पुनः वैदिक यज्ञधूम से भारतका आकाश मेघावृत्त होगा? अथवा पशुरक्त से रन्तिदेव की कीर्ति का पुनरुद्दीपन होगा? गोमेध, अश्वमेध, देवर के द्वारा सुतोत्पत्ति आदि प्राचीन प्रथायें

पुनः प्रचलित होगी अथवा बौद्ध काल की भांति फिर समग्र भारत सन्यासियों की भरमार से एक विस्तीर्ण मठ में परिणत होगा ? मनु का शासन पुनः क्या उसी प्रभाव से प्रतिष्ठित होगा अथवा देशभेद के अनुसार भक्ष्याभक्ष्य के विचार का ही आधुनिक काल के समान प्रभुत्व रहेगा ? क्या जातिभेद गुणानुसार होगा अथवा सदा के लिये यह जन्म के अनुसार ही रहेगा ? जातिभेद के अनुसार भोजन-सम्बन्ध में छूआछूत का विचार बंग-देश के समान रहेगा अथवा मद्रास आदि प्रान्तों के समान महान कठोर रूप धारण करेगा अथवा पञ्जाब आदि प्रदेशों के समान यह एक दम ही दूर हो जायगा ? भिन्न भिन्न वर्णोंका विवाह मनूक्त अनुलोम-क्रम से—जैसे नेपालादि देशों में आजकल प्रचलित है—पुनः सारे देश में प्रचलित होगा अथवा वंग आदि देशों के समान एक वर्ण के अवान्तर भेदों में ही प्रतिबद्ध रहेगा ? इन सब प्रश्नों का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। विभिन्न देशों में, यहां तक कि, एक ही देश में भिन्न भिन्न जातियों और वंश के आचारों की घोर विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए यह मीमांसा और भी कठिन जान पड़ती है।

तब क्या होगा ?

जो हमारे पास नहीं है, शायद जो पहले भी नहीं था, जो यवनोंके पास था, जिसका स्पन्दन यूरोपीय विद्युदाधार(डाइनेमो) से उस महाशक्ति को बड़े वेग से उत्पन्न कर रहा है जिसका संचार समस्त भूमण्डलमें हो रहा है, हम उसी रजोगुणको चाहते हैं। हम वही उद्यम, वही स्वाधीनता की इच्छा, वही आत्मावलम्बन, वही अटल धैर्य, वही कार्यदक्षता, वही एकता और वही उन्नति-तृष्णा चाहते हैं। सदा बीती बातों की उधेड़बुन छोड़, अनन्त तक फैली अग्रसर-दृष्टि की हम कामना करते हैं और

शिर से पैर तक की सब नसों में बहनेवाले रजोगुण की उत्कट इच्छा रखते हैं।

त्याग की अपेक्षा और अधिक शान्तिदाई क्या हो सकता है ? अनन्त सुख की तुलना में क्षणिक ऐहिक सुख निसंशय अत्यन्त तुच्छ है। सत्त्वगुण की अपेक्षा महाशक्ति का सञ्चय और किससे हो सकता है ? यह वास्तव में सत्य है कि अध्यात्म-विद्या की तुलना में और सब चीजें 'अविद्यायें' हैं, किन्तु इस संसार में कितने मनुष्य सत्त्वगुण प्राप्त करते हैं ? इस भारतभूमि में ऐसे कितने मनुष्य हैं ? कितने मनुष्यों में ऐसा महावीरत्व है जो ममता को छोड़कर सर्वत्यागी हो सकें ? वह दूरदृष्टि कितने मनुष्यों के भाग्य में है जिससे सब ऐहिक सुख तुच्छ विदित होते हैं ? वह विशाल हृदय कहां है जो भगवान के सौन्दर्य और महिमा की चिन्ता में अपने शरीर को भी भूल जाता है ? जो ऐसे हैं भी वे समग्र भारत की जनसंख्या की तुलना में मुट्ठी भर ही हैं। इन थोड़े मनुष्यों की मुक्ति के लिये करोड़ों नर-नारियों को सामाजिक और आध्यात्मिक चक्र के नीचे पिस जाना होगा क्या ? और इस प्रकार पिसे जाने से फल भी क्या होगा ?

क्या तुम देखते नहीं हो कि—इस सत्त्वगुण के बहाने से देश धीरे २ तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है ? जहां महाजड़बुद्धि पराविद्या के अनुराग के छल से अपनी मूर्खता छिपाना चाहते हैं, जहां जन्म भर का आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है, जहां क्रूरकर्मवाले तपस्यादि का स्वाँग करके निष्ठुरता को भी धर्म का अङ्ग बनाते हैं; जहां अपनी कमजोरी के ऊपर किसी की भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने को तत्पर है; जहां कुछ

पुस्तकों को कण्ठ करना ही ज्ञान है, दूसरों के विचारों की टिप्पणी करना ही प्रतिभा है, और इन सबसे बढ़कर केवल पितृ-पुरुषों के नाम कीर्तन में ही जिसकी महत्ता रहती है वह देश दिन पर दिन तमोगुण में डूब रहा है—यह सिद्ध करने के लिये हमको क्या और प्रमाण चाहियें ?

अतएव सत्त्वगुण अब भी हम से बहुत दूर है। हममें जो परमहंस-पद प्राप्त करने योग्य नहीं हैं या जो भविष्य में योग्य होना चाहते हैं, उनके लिये रजोगुण की प्राप्ति ही परम कल्याण-कर है। विना रजोगुण के द्वारा क्या कोई सत्त्वगुण प्राप्त कर सकता है ? विना भोग के शेष हुए योग कर ही क्या सकता है ? बिना वैराग्य के त्याग कहां से आवेगा ?

दूसरी ओर रजोगुण ताड़ के पत्ते की आग की तरह शीघ्र ही बुझ जाता है। सत्त्व का अस्तित्व नित्य पदार्थके निकट है, सत्त्व प्रायः नित्य सा है। रजोगुणवाली जाति दीर्घजीवी नहीं होती, सत्त्वगुणवाली जाति चिरंजीवी सी है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

भारत में रजोगुण का सर्वथा अभाव ही है, इसी प्रकार पाश्चात्य में सत्त्वगुण का अभाव है। इसलिये यह निश्चय है कि भारत से बही हुई सत्त्वधारा के ऊपर पाश्चात्य जगत का जीवन निर्भर करता है; और यह भी निश्चित है कि विना तमोगुण को रजोगुण के प्रवाह से दबाये, हमारा ऐहिक कल्याण नहीं होगा और बहुधा पारलौकिक कल्याण में भी विघ्न उपस्थित होंगे।

इन दोनों शक्तियों के सम्मिलन और मिश्रण की यथासाध्य सहायता करना इस पत्रका जीवनोद्देश्य है।

यह भय है कि, इस पाश्चात्य वीर्य-तरंग में चिरकाल से अर्जित हमारे अमूल्य रत्न बह तो न जायंगे ? और उस प्रबल भंवर में पड़कर भारतभूमि भी ऐहिक सुख प्राप्त करने की रण-भूमि में बदल तो न जायगी ? असाध्य एवं असम्भव, जड़ से उखाड़ देनेवाले विदेशी ढंग का अनुकरण करने से हमारी दो नावों के बीच में पड़ जानेवाली दशा हो जायँगी—और हम 'इतोनष्टस्ततो भ्रष्टः' के उदाहरण बन जायंगे।

इसलिये हम को अपने घर की सम्पत्ति सर्वदा सम्मुख रखनी होगी, जिससे जन साधारण तक अपने पैतृक धन को सदा देख और जान सकें, हम को ऐसा प्रयत्न करना होगा और इसी के साथ-साथ बाहर से प्रकाश प्राप्त करने के लिये हमको निर्भीक होकर अपने घर के सब दर्वाजे खोल देने होंगे। संसार के चारों ओर से प्रकाश की किरण आवें, पाश्चात्य का तीव्र प्रकाश भी आवे। जो दुर्बल, दोषयुक्त है उसका नाश होहीगा। यदि वह चला जाता है तो जावे, उससे हमको क्या हानि होगी ? जो वीर्यवान, बलप्रद है, वह अविनाशी है; उसका नाश कौन कर सकता है ?

कितने पर्वत-शिखरों से कितनी ही हिम की नदियां, कितनी ही झरने जलधारायें निकलकर विशाल सुरतरंगिणी के रूप में महावेग से समुद्र की ओर जा रही हैं। कितने विभिन्न प्रकार के भाव, देशदेशान्तर के कितने साधु हृदयों, और ओजस्वी मस्तिष्कों से निकलकर असंख्य शक्ति-प्रवाह मनुष्यों के रंगक्षेत्र, कर्मभूमि-भारतवर्ष में छा रहे हैं। रेल, जहाज रूपी वाहन और बिजली की सहायता से अंगरेजों के अधिपत्य में बड़े ही वेग से नाना प्रकार के भाव और रीतिनीति देश में फैल रही है। अमृत आ रहा है और उसी के साथ साथ विष भी आ रहा है। क्रोध कोलाहल और रक्तपात आदि सभी हो चुके हैं पर इस तरंग को रोकने की शक्ति हिन्दू समाज में नहीं है। यंत्र से

उठाये हुए जल से लेकर हड्डियों से साफ की हुई चीनी तक सब पदार्थों को बहुत मौखिक प्रतिवाद करते हुए भी सब चुपचाप ग्रहण कर रहे हैं। कानून के प्रबल प्रभाव से अत्यन्त यत्न से रक्षित हमारी बहुत सी रीतियां धीरे धीरे दूर होती जा रही हैं—उनकी रक्षा करने की शक्ति हममें नहीं है। हममें शक्ति क्यों नहीं है? क्या सत्य वास्तव में शक्तिहीन हैं? "सत्यमेव जयते नानृतम्"—सत्य की ही जय होती है, न कि झूठ की—यह वेदवाणी क्या मिथ्या है? अथवा जो पाश्चात्य शासन-शक्ति या शिक्षा-शक्ति के प्रभाव से चला जा रहा है—वे आचार ही अनाचार थे क्या? यह भी विशेष रूप से विचारने का विषय है।

"बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय"—निस्वार्थ भाव से, भक्ति-पूर्ण हृदय से इन सब प्रश्नों की मीमांसा के लिये यह पत्र सहृदय, प्रेमी बुधमण्डली को आह्वान करता है एवं द्वेषबुद्धि छोड़ व्यक्ति-गत, सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक कुवाक्यप्रयोग से विमुख होकर सब सम्प्रदायों की सेवा के ही लिये अपना शरीर अर्पण करता है।

कर्म करने का अधिकार मात्र हमारा है, फलाफल के दाता प्रभु हैं। हम केवल प्रार्थना करते हैं—"हे तेजःस्वरूप! हमको तेजस्वी बनाओ; हे वीर्यस्वरूप हमको वीर्यवान बनाओ; हे बलस्वरूप! हमको बलवान बनाओ।"

* * *

तेईस वर्ष हुए पूर्वोक्त लेख स्वामी विवेकानन्दजी महाराज ने श्रीरामकृष्ण सङ्घ के बंगला मुखपत्र "उद्बोधन" की प्रस्तावना में लिखा था। "समन्वय" के भी यही उद्देश्य हैं और इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये "समन्वय" चेष्टा भी करेगा। इसके सम्मुख

एक कार्य और है: वह यह कि समन्वयाचार्य भगवान श्रीराम-कृष्ण के आगमन के पहले संसार भर में यही भाव था कि केवल एक ही प्रकार का धर्म सत्य हो सकता है। सत्य को इस प्रकार की संकीर्णदृष्टि से देखने के कारण विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों में जो अपने ही विश्वास को एकमात्र सत्य समझती हैं घृणा और झगड़े उत्पन्न हुए। श्रीरामकृष्ण की अलौकिक अनु-भूति ने ही सब धर्मों की सत्यता यह कह कर स्पष्ट प्रकट कर दी कि भिन्न २ धर्म एक ही ब्रह्म की ओर जानेवाले नाना प्रकार के मार्ग हैं। "समन्वय" इसी सत्य के ऊपर खड़ा होकर संसार के समस्त सम्प्रदायों को एकता-सूत्र में आबद्ध करने के लिये प्रयत्न करेगा। संक्षेप में, "समन्वय" श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के विचारों को उचित और उत्तम रीति से हिन्दी-संसार के सम्मुख रखेगा।

यह कहना अनावश्यक होगा कि इसकी सफलता इसके पाठकों की सहानुभूति और सहयोग पर निर्भर है। भगवान हमको अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिये यथोचित बल प्रदान करें और इस क्षुद्र साधन द्वारा देश में अपनी कृपासुधा वर्षण करें, यही हमारी अभिलाषा है।

स्वागत !

(श्रीयुत पं० मुकुटधर पाण्डेय)

स्वागत, हे सुन्दर सुकुमार !
आओ हृदय-मार्ग से मेरे, प्रियतम प्राणाधार !
आओ, हे घनश्याम उदार !
आओ, प्रेम-वारि बरसाओ
विटप वेलियों में लहराओ
आओ, झरनों से मिल गाओ
हे कवि कुशल अपार ॥ १ ॥
आओ, ऊषा के संग आओ
किरणों के मिस कर फैलाओ
विकसित अमल-कमल बन जाओ
पहनो मुक्ताहार ॥ २ ॥
सरस वसन्तानिल सरसाओ
श्रावण-घन बनकर नभ छाओ
सरदाकाश-विलास दिखाओ
चारु-चन्द्रिकागार ॥ ३ ॥
आओ, भाव-सरित बन धाओ
हृदय-स्थित सब कलुष बहाओ
तन-मन-नयन मध्य भर जाओ
मोहन ! छवि-आधार ॥ ४ ॥
स्वागत, हे सुन्दर सुकुमार ।

—'पाद्यार्घ्य' से

सामाजिक स्थिति और उसका सुधार।

(स्वामी अमरानन्द)

भारतवर्ष की वर्तमान सामाजिक स्थिति पर दृष्टि डालने से किसी भी बुद्धिमान मनुष्य को खेद हुए बिना नहीं रह सकता। चारों ओर दरिद्रता और सब चीजों के अभाव से हाहाकार मच रहा है ; एक दूसरे की सहानुभूति तो क्या करेगा, उसका सत्यानाश करने पर उतारू रहता है ; कपट विकट वेश धारण किये सर्वत्र राज करता दिखाई देता है ; घोर स्वार्थपरता ने संसार को नरक सा बना दिया है। कहीं प्रेम का नामोनिशान तक नहीं है। गृहस्थ के घर में अन्न नहीं, उनके बदन पर कपड़े नहीं ; पूर्वकाल की तरह उनमें संयम नहीं ; और न कोई अपने धर्म का पालन ही करता है। साधु भी सिर्फ भीख मांगना ही अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझते हैं। किसी के चेहरे पर वह पूर्वकालिक छटा नहीं ; बाल बच्चे दुबले, अधमुए से मालूम होते हैं। पशु भी डांगर हो रहे हैं। संक्षेप में, सर्वत्र एक प्राणहीनता की ही निरानन्द छवि दिखाई देती है। देखकर जी दुख से भर जाता है। हम क्या थे, और अब क्या हो गये, यह सोचकर हमारी आंखों से आंसू बहने लगते हैं।

और और देशों की दशा थोड़ी अच्छी होने पर भी प्रायः ऐसी ही है। किसी किसी देश में धन है, भारत की तुलना में ऐहिक सुखसम्पद् की अधिकता है ;—न वे अन्न वस्त्र के लिये तरसते हैं, न शिक्षा के अभाव से अंधेरे में पड़े हुए हैं ; पर ज्यों ही बाहरी आवरण को उठाकर जरा तीखी नजर से देखिये तो यह बात छिपी न रहेगी कि उनकी ऊपरकी बनावट के भीतर भारत-

वर्ष की ही तरह आर्तों की करुण पुकार हृदय को पिघला रही है। उनमें भी लाखों दीन, हीन, गरीब मारे कष्ट के रो पीट रहे हैं। धनमद से अन्ध उच्च श्रेणी के मनुष्यों के कानों तक उनका आर्त्तनाद पहुंचता ही नहीं। वहां भी स्वार्थपरता, निठुरता और भोग-लालसा का दौरदौरा है इस विगड़ी दशा को सुधारने की कोशिश करनेवाले जो दो चार हैं भी तो उनकी सुनता ही कौन है? उनका प्रयास व्यर्थ सा हो रहा है। हां, एक बात पाश्चात्य देशों में विशेष है—वह यह कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपने कुछ ऐसे गुणों का विकाश कर देते हैं जो हमारे यहां नहीं हो सकता। जैसे, जब शत्रु खड़ा होकर देश को धमकी देता है तब ये स्वाधीन देश तुरन्त इकट्ठे हो अपनी सम्मिलित शक्ति से शत्रु को बहुत जल्दी नीचा दिखा देते हैं। यह उनकी स्वाधीनता का फल है; वे इसमें अभ्यस्त भी हैं।

अनादि काल से हमारी भारत भूमि ने धर्म को अपना मुख्य विषय समझ रक्खा है, अपनी सारी शक्ति उसने धर्म की ही उन्नति करने में निछावर कर दी। इसीलिये भारतवर्ष धर्मप्राण देश कहलाता है। पर एक बात विशेष रूप से विचारने योग्य है—वह यह कि धर्म की शक्ति तो संसार में एक अनूठा चीज है। उसको अपनानेवाला भारतवर्ष इतना निर्बल हो, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? क्यों उसमें अपनी बुराइयों को दूर करने की ताकत नहीं है? क्यों वह प्राचीन काल में परम ऐश्वर्य का आधार होते हुए भी आज इतना नष्टश्री हो गया है? स्वर्णप्रसू भारतभूमि में मुट्ठी भर अन्न के लिये लोग इतने व्याकुल क्यों हैं? क्यों उसको अपने काम की चीजों के लिये दूसरे देशों का मुंह ताकना पड़ता है? इन प्रश्नों के दो उत्तर हो सकते हैं—एक यह कि धर्म में जिस शक्ति का अस्तित्व मान

लिया जाता है वास्तव में उसमें वह शक्ति है ही नहीं; और दूसरा यह कि हम भारतवासी मुंह से तो अपने आपको खूब ही धार्मिक बतलाते हैं पर हममें धर्म का लवलेश भी नहीं है। केवल बात बनाने से ही किसी चीज की सत्यता साबित नहीं होती। हम वास्तव में घोर अधार्मिक अवश्य हैं।

उक्त दोनों शंकाओं में पहली का उत्तर सीधा है।—जगत में हम देखते हैं कि थोड़ी सी भौतिक शक्ति मिलने पर मनुष्य अनहोनी को भी होनी कर देते हैं। अब भी भारतवर्ष में ऐसे मनुष्यों का अभाव नहीं जो अपनी सिद्धाई से आधुनिक विज्ञान को भी अचम्भे में डाल देते हैं—विज्ञान अपनी पूरी बुद्धिशक्ति को लगाकर भी उन सब करामातों का पता नहीं लगा सकता, और आश्चर्य के साथ बोल उठता है—"यह क्या है!" लेकिन ये शक्तियां सूक्ष्म होने पर भी भौतिक हैं। उनके अधिकारी मृत्युञ्जय नहीं होते, मोक्ष साम्राज्य में पैठ नहीं सकते। वे खुद ही इस बात को जानते हैं। पदार्थविज्ञान (Physics) वा रसायन शास्त्र के ज्ञाता विद्वान होते हुए भी जैसे माया से परे नहीं, आकाश में उड़नेवाले, या जलके ऊपर चलनेवाले भी वैसे ही हैं। पक्षान्तर में, आत्मा का साक्षात्कार किये हुए एक महात्मा जिनके पास एक लंगोटी भी नहीं रहती, लाखों तापित प्राणियों को अपने मधुर व्यवहार और दिल में चुभनेवाले उपदेशों से तृप्त कर देते हैं; अपनी त्रिकालदृष्टि से उनके शुभाशुभ की पहचान कर उन्हें उनको सीधी राह बता देते हैं। घमण्डी मनुष्य भी उनके पास थोड़ी देर बैठ अपने कठोर स्वभाव को भुलाकर और कोमल हृदय लेकर वहां से लौटता है। जिस अपूर्व शक्ति के सामने विश्वविजयी सिकन्दर बादशाह को भी सिर नवाना पड़ा, जिसके तनिक प्रकाश से शेर और सांप जैसे क्रूर जानवर

भी हिंसा छोड़ देते हैं, जिसको लाभकर भगवान बुद्ध ने एक बकरे के लिये प्राण देना चाहा, भगवान ईसामसीह क्रूस पर चढ़े क्या उस धार्मिक शक्ति को कोई सच्चे दिल से अस्वीकार कर सकता है? विचार की दृष्टि से देखने से जड़ की सत्ता चैतन्य पर ही अवलम्बित प्रतीत होती है, और यह सत्य सदा के लिये विद्यमान रहेगा। इस विचार को हम सहृदय पाठकों ही पर छोड़ अब दूसरी शङ्का को लेते हैं।

हमको यह विवश होकर मानना पड़ेगा कि आधुनिक भारत-वासी धर्मजीवन यापन नहीं करते। नहीं तो हमारी यह दुर-वस्था न होती। अगर हमें अपनी दशा सुधारनी हो तो हमें धर्म को कार्य में परिणत करना होगा। पोथी में लिखी हुई बातें कार्य में परिणत कर दिखाना होगा। यह बात नहीं कि भारतवासियों ने धर्म की जड़ तक खो दी है। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह आशा की वाणी मृतप्राय भारतवासियों को सुनाई है कि भारत में धर्म अब तक जिन्दा है। उसको पहचानकर अपनाना ही आवश्यक है। उन्होंने यह भी कहा कि धर्म के दो रूप हैं- एक भीतरी रूप, जो उसका स्वरूप है; और दूसरा उसका बाहरी रूप, जो देशकालानुसार बदलता गया है। भारत के इतिहास में भी यह बात नई नहीं है। वैदिक युग में धर्म जिस रूप में वर्तमान था, पौराणिक या तान्त्रिक युग में उसका वह रूप नहीं था। मनुष्यों की रुचि बदलती जाती है, और सभी मनुष्य एक से अधिकारी नहीं होते। इसलिये देशकालानुसार धर्म का बाह्य परिवर्तन हुआ करता है। काल-शक्तिकी प्रेरणा से कोई विशेष शक्तिमान महापुरुष देश में उत्पन्न होकर उस समय के मनुष्यों की नैतिक दशा को समझ उनकी आवश्यकता के अनुसार धर्म का भेष बदल दिया करते हैं। आचार्यों ने इन ऋषिकल्प

महात्माओं को आधिकारिक पुरुष या अवतार कहा है। मानों धर्मका अक्षय स्वरूप अपने आपको नये नये आकार में प्रकट करता है, जिसमें अगले युगों के मनुष्य उनको भलीभांति अपने दैनिक जीवनमें अपना सकें।

भारतवर्ष में धर्म के कितने रूपान्तर हुए यह शिक्षित जनों से अविदित नहीं है। अगर कोई धर्म की एक सार्वजनिक संज्ञा (definition) मांगे तो वह यह होगी कि जिस व्यवहार से जगत में एकता की पुष्टि होती है वही धर्म है, और जिससे भेद-सङ्कुल जगत में और भी भेद की सृष्टि होती है वही अधर्म है। हमारे प्राचीन से प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि यह विश्व एक परमेश्वर से उत्पन्न हुआ, उसीमें स्थित रहता है, और अन्त में उसी परम कारण में लय हो जाता है। और यह भी एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कार्य कारण का रूपान्तर मात्र है। मिट्टी से बना हुआ हाथी मिट्टी से अलग नहीं है; वह मिट्टी ही है; केवल उसके रूप और नाम में ही कुछ अन्तर है। सूत से बना कपड़ा सूत से अभिन्न है। इसी विचार से जान पड़ेगा कि परमकारण ब्रह्म से विकसित हुआ यह जगत स्वरूप में ब्रह्म से भिन्न नहीं है। भेद है उसके नाम और रूप में। यदि यही सत्य है तो क्या यह उचित नहीं कि जगत में करोड़ों भेदों को देखते हुए भी हम कभी कभी सद्विचार की आंखें खोलकर उनके पीछे जो अखण्ड सत्ता विराजती है—जिसे शास्त्र सत्-चित्-आनन्द का घना रूप ब्रह्म कहते हैं—उस स्वतन्त्र सत्ता को याद करें? केवल शास्त्र ही नहीं, पृथ्वी भर में जितने देवतुल्य मानव आविर्भूत हुए हैं, जिन्होंने पृथ्वी को स्वर्ग बनाया, वे सभी एक स्वर से यही बताते आते हैं। साधक भी अपनी साधना की चरम अवस्था में यही प्रत्यक्ष करता है। इन सब प्रमाणों पर विचारने से हम

समझ सकते हैं कि धर्म की पूर्वोक्त संज्ञा प्रायः ठीक ही है।

हमारे सामाजिक रीतिरिवाजों में से जो जो धर्म की ऊपर लिखी हुई संज्ञा से मिलते हैं हमें उन्हें ही लेना चाहिये और जो इनके विपरीत हैं उन्हें अधर्म जानकर त्याग देना चाहिये। इसलिये अगर हम इस कसौटी पर अपने वर्ताव को कस लें तो कुछ हानि तो होगी ही नहीं, वरन कई लाभ ही होंगे। जब सारा संसार जान बूझकर या बिना जाने उस एक लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है, जब उस मौलिक एकत्व के पास फिर से पहुंचना ही हमारे जीवन का ध्येय है, तब हम दूसरे से वर्त्ताव करते समय यदि इस बात पर ध्यान रक्खें तो क्या यह विराट नियम की ही पाबन्दी न होगी? इसमें सन्देह का अवसर ही नहीं। शास्त्र, युक्ति, सदाचार सभी इस मार्ग के पोषक हैं।

अब जैसी स्थिति है, इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि हमारा हृदय सिकुड़ा हुआ है; उसको यथोचित शिक्षा नहीं मिली है। इसलिये अब मस्तिष्क की शिक्षा पर उतना ध्यान न देकर हृदय की शिक्षा पर ध्यान देना आवश्यक है। केवल मस्तिष्क की उन्नति से जगत में बड़े बड़े पण्डित पैदा हो सकते हैं, पर उनमें जगत को प्रेम की डोरी से बांधने की शक्ति न होगी। वे बहुतेरी किताबें रट सकेंगे, पर उनमें से एक में वर्णित विषय को भी काम में न ला सकेंगे। सब माता पिताओं और अभिभावकों को उचित है कि वे स्वयं भी अपने हृदय को विस्तृत बनावें और अपने लड़के वालों को भी अपने दृष्टान्त से उन्नत करें। धर्म का मूल स्वरूप अटूट है, यह जानकर उसके अवान्तर भेदों में लोगों को कुछ समयानुकूल हेरफेर करने का अवकाश देना आज कल के लिये हितकर है। दुर्भाग्यवश हमारे यहाँ यह बात नहीं पाई जाती। यहां जन्म ही गुण का प्रमाणपत्र समझा जाता है, चाहे

कोई ब्राह्मण के कुल में जन्म लेकर पशुवत आचरण ही क्यों न करे। आजकल स्मृति का विधान देनेवाले पण्डित चरित्र की मूल बातों पर ध्यान नहीं देते; फल इसका यह है कि अगर किसी सत्-चरित्र मनुष्य ने किसी तुच्छ विषय में स्मृति के पुराने विधानों के अक्षरों में जरा भी हेरफेर किया तो हमारे आधुनिक व्यवस्था देनेवाले पण्डित जी बेतरह घबड़ा जाते हैं। उनके विचार में वह मनुष्य दण्ड पाने योग्य हो जाता है, चाहे उसमें कितने ही सद्-गुण क्यों न हों। ऐसे कठोर शासन का एक बुरा प्रभाव यह भी है कि पाप समाज के ऊपर से भीतर की ओर घुसते जाते हैं। साधारण लोग प्रवृत्ति के वश में हैं, वे बुराइयों को छोड़ नहीं सकते, इस शासन के डर से वे सिर्फ उनको छिपे छिपे चरि-तार्थ करते हैं। समाज के लिये यह और भी हानिकर है।

मनुष्यों को सुधारने की शक्ति न तो कानून में ही है और न धर्मशास्त्र में ही। वह शक्ति मनुष्य के ही अन्दर छिपी हुई है। जब तक वह सुप्तशक्ति जागृत नहीं होती तब तक शास्त्र कुछ असर नहीं कर सकते। पुण्यचरित्र महात्माओं में उस निद्रित शक्ति को जगा देने की सामर्थ्य है। इसीलिये साधुसंग में पापी भी शुद्ध हो जाता है। समाज के अधिकांश लोगों को ऐसा साधु-चरित्र होना चाहिये कि उनके पास आते ही पापी का हृदय दहल उठे। हमारा चरित्र ही हमें यह सामर्थ्य देगा। लड़कपन से हृदय को उन्नत करनेवाली शिक्षा पाने पर हममें धीरे धीरे वह सामर्थ्य आ जायगा। इसीलिये आजकल ऐसी ही उदार शिक्षा की आवश्यकता है। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे शिक्षा-विभाग के कार्यकर्त्ता इस ओर कुछ ध्यान दें!

सिद्ध महात्मा।

(श्रीयुत पं० रामचरित उपाध्याय)

(१)

ईश्वर कोटि मनुज अवतारी-तन धारण कर आता है,
ऐहिक लीला करके फिर वह ईश्वर से मिल जाता है।
कभी न उसको बन्धन मिलता, उसकी होती मुक्ति नहीं,
योग युक्ति या धर्म कर्म की उसको होती भुक्ति नहीं॥

(२)

बिना साधु के साधुजनों को अन्य जान क्या सकता है?
नेत्र-हीन क्या श्वेत पीत के भेद-भाव पा सकता है?
बिना हंस के क्षीर नीर से अन्य कौन बिलगावेगा?
बिना ऊँट के ऊँट-कण्ठ की खुजली कौन मिटावेगा?

(३)

सिद्ध पुरुष जग में रह कर भी जग से रहता लिप्त नहीं,
जलज-पत्र क्या जल में रहकर जल से होता सिक्त कहीं?
पानी से पनडुब्बी का पर कभी क्लिन्न क्या होता है?
पारद-खनि में डूब कनक का कलश कान्ति क्या खोता है?

(४)

सिद्ध साधु में अहंकार का रहता है संचार नहीं,
छाया मात्र किन्तु अहमिति की पाई जाती कहीं कहीं।
जैसे रस्सी जल जाती है तो भी ऐंठ न जाती है,
सिर कटने पर भी ज्यों बकरी कुछ कुछ अङ्ग हिलाती है॥

(५)

कभी किसीको सिद्ध साधु क्या अपने निकट बुलाता है?
आसन पर बैठे ही नित वह शिक्षा-सत्र चलाता है।
जैसे गुड़ पर गिरें मक्खियाँ, नदियाँ मिलतीं सागर से,
वैसे जनता स्वयं सदा मिलती रहती है मुनिवर से॥

(६)

दन्तकथा कहने से जग में होता धर्म-प्रचार नहीं,
बक बक वे करते फिरते हैं जिनमें पूर्ण विचार नहीं,
कभी न कुछ कहते गुरुज्ञानी, करके कर्म सिखाते हैं,
कर्ण-कटुक क्या शब्द कभी भी भरे कलश में पाते हैं?

(७)

जग के लिये दुःख सहते हैं तन मन धन दे देते हैं,
अपने सुख के लिये किसी से नहीं कभी कुछ लेते हैं।
आत्म-बड़ाई पर की निन्दा नहीं साधु को भाती है,
षड्वर्गों से रहित सिद्ध के चिन्ता निकट न आती है॥

(८)

मानाऽमान समान मानकर रहते हैं गत-शोक सदा,
ज्ञानालोक स्वयं हो करते हैं आलोकित लोक सदा।
भूतल को भरते हैं जलधर जलनिधि से जल लेते हैं,
लेकर साधु धनिक के धन त्यों, नित दीनों को देते हैं॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग ।

(श्रीयुत पं० शिवकुमार शास्त्री, सम्पादक—"ज्ञानशक्ति")

आज कल यह प्रश्न बड़े जोर से उठ रहा है कि,—"गीता में प्रवृत्ति मार्ग है या निवृत्ति"। बहुत दिन हुए हमारे एक मित्र ने भी बड़े आग्रह से पूछा था कि,—"कृष्ण भगवान ने गीता में प्रवृत्ति मार्गका प्रतिपादन किया है या निवृत्ति मार्ग का ?" हमने उस समय जो कुछ इस प्रश्नका उत्तर दिया था आज उसी को लेखबद्ध करने की इच्छा है।

वर्तमान समय में 'गीता-रहस्य' के प्रकाशित होने से इसका प्रसङ्ग भी आ पड़ा है। यों तो इस प्रश्न का उत्तर दो ही चार शब्दों में भी हो सकता है। पर ऐसे उत्तर से लोगों की शङ्का दूर नहीं हो सकती और न गीता का वास्तविक मर्म ही विदित हो सकता है। वास्तविक भूल लोग गीता के अर्थ समझने में नहीं करते, भूल होती है निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग के अर्थ समझने में। आज कल के विद्वान जो गुण प्रवृत्ति मार्ग में समझते हैं वह गुण वास्तवमें निवृत्ति मार्ग में ही है। निवृत्ति मार्गी ही सच्चा प्रवृत्ति मार्गी है। प्रत्येक गृहस्थ को निवृत्ति मार्गके अनुसार कार्य्यक्षेत्र में उतरना चाहिये। निवृत्तिमार्ग के वास्तविक तत्त्व और अर्थ को विचारिये तो आप भी कहेंगे कि निवृत्ति मार्ग, कर्म-सन्यास या त्याग वास्तव में वह वस्तु नहीं है जिसे हम समझते थे, वरन यह सफलता की एक गुप्त कुञ्जी है।

निवृत्ति मार्ग का अभिप्राय कर्म से निवृत्ति होना नहीं है, निवृत्ति मार्ग का उद्देश्य फलसेनिवृत्त होना है। क्योंकि कर्म से निवृत होना दुस्साध्य ही नहीं, असम्भव है। जब तक शरीर है कोई मनुष्य

कर्म से निवृत्त हो ही नहीं सकता। गीता में तो स्पष्ट कहा है:—

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः

—श्लो० ८ अ० ३।

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

—अ० १८ श्लो० ११।

कोई मनुष्य क्षण भर भी बिना कर्म के नहीं रह सकता। कोई शरीरधारी कभी इस योग्य नहीं हो सकता कि वह तमाम कामों को छोड़ दे और शरीर धारण किये रहे। अतः जो कर्म के फल को त्यागनेवाला है वही त्यागी है।

कृष्ण भगवान का यह मतलब नहीं है कि केवल उन्हें ऐसा त्याग पसन्द है या अर्जुन के लिये ऐसे ही त्याग की आवश्यकता थी। कभी नहीं। उनका यह भी मतलब नहीं है कि ऐसे युद्ध के समय में त्याग का यही अर्थ लेना चाहिये। नहीं, वह तो जोर देकर कहते हैं कि कर्मों का त्याग हो ही नहीं सकता। निम्नलिखित श्लोक में तो उन्होंने स्पष्ट कहा है कि त्याग का अर्थ यह है :—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं, प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

—अ० १८ श्लो० २।

अर्थ—फलेच्छा सहित जो कर्म किये जाते हैं उनका छोड़ना सन्यास कहलाता है। सन्यास में भी कर्मों का त्याग नहीं है। इसी तरह सब कर्मों के फलों का त्याग ही त्याग है। इसी त्याग को बड़े २ विद्वानों ने "त्याग" कहा है।

पूर्वोक्त त्याग या निवृत्ति मार्ग से केवल यह मतलब नहीं है कि ऐसा आचरण करने से शास्त्र की आज्ञा पूरी हो जाती है,

था यह प्राणी मोक्ष का भागी हो जाता है। नहीं, उसका विशेष गुण यह है कि बिना ऐसा किये कोई अपने कर्तव्य कर्म में सफल नहीं हो सकता। कई जगह ऐसा होता है कि फल की ओर इच्छा जाने से मनुष्य डर जाता है और उसका कोई काम पूरा नहीं उतरता। मान लीजिये, एक लड़का परीक्षा देने के लिये परीक्षक के सामने जाता है। ऐसे समय में यदि उसका मन फल की ओर गया—वह सोचने लगा कि ऐसा न हो कि हम अनुत्तीर्ण हो जायँ, तो उसकी क्या दशा होगी? वह डर जायगा, उसका कलेजा धड़कने लगेगा, वह प्रश्नों का उत्तर ठीक ठीक न दे सकेगा। कोई मनुष्य व्याख्यान देने के लिये खड़ा हुआ और मन फल की ओर गया कि ऐसा न हो कि हमारा व्याख्यान बिगड़ जाय, तो इस व्याख्यान-दाता की भी वही दशा होगी जो लड़के की हुई थी, वह कुछ बोल न सकेगा। एक मनुष्य एक भरे हुए घी के पात्र को दूसरे पात्र में उड़ेलना चाहता है। उड़ेलनेवाला यदि अपना मन फल की ओर ले जाता है वह अवश्य डर जायगा, वह सोचेगा कि कहीं घी गिर न पड़े। बस, यह डर हाथ को हिला देगा और घी अवश्य गिर पड़ेगा। इस संसार रूपी अथाह नदी में जो जितना ही डरता और फल की ओर ध्यान देता है वह उतना ही डूबता है।

अस्तु। डरने की बात जाने दीजिये; किसी कार्य को लीजिये। मान लीजिये, सर्व साधारण की एक सभा है। इसका उद्देश्य देश और जाति का हित करना है। इसके लिये कई एक कार्य-कर्त्ताओं की आवश्यकता है। इसमें निस्स्वार्थ भाव से काम करने से और कुछ चाहे न हो पर प्रतिष्ठा अवश्य मिलेगी और जाति एवं देश का हित होगा। बहुत से लोग आकर इसकी सहायता और इसके कार्य का बीड़ा उठाते हैं। पर

कार्य हाथ में लेते ही उनका ध्यान फल की ओर जाता है—प्रतिष्ठा की इच्छा बढ़ जाती है। ऐसे मनुष्यों को प्रतिष्ठा नहीं मिलती। फलेच्छा में इतना ही दोष नहीं है कि प्रतिष्ठा न मिले किन्तु वह मनुष्य काम भी नहीं कर सकता। उसका उत्साह प्रत्येक स्थान में भङ्ग हो जाता है। जिस संस्था में वह जायगा उससे वहांके लोगों से झगड़ा हो जायगा। क्योंकि जितनी प्रतिष्ठा वह चाहता है वह शीघ्र काम हाथ में लेते ही नहीं मिलती। प्रतिष्ठादि सांसारिक फलों में यह एक बड़ा दोष है, जो इन्हें जितना ही चाहता है ये उतना ही उससे दूर रहते हैं।

> बिनु मांगे सोना मिलै,
> मांगे कौड़ी हाथ।
> चाहे पै भागा फिरै,
> अब बिनु चाहे साथ॥

दुनियाँ की यही दशा है। जिसे आप पकड़ने जाइये वह भाग जायगा। मतलब तब सधता है जब उसे तलब मत करे। इसीसे इसका नाम मतलब है। खिलाने के लिये भी यदि किसी जानवर को पकड़ने जाइये तो वह भाग जायगा। पकड़ने की इच्छा न कीजिये, वह पास बैठा रहेगा। किसीको यह मालूम हो जाय कि हमारी इनको बड़ी चाह है तो वह सर्वदा रूठा ही रहेगा, प्रायः भागा भी फिरेगा, अपनी छाया को भी यदि पकड़ने के लिये दौड़िये तो वह भागती जायगी परन्तु उसकी ओर पीठ कर भागने से वह आपके लिये दौड़ेगी। संसार की सारी माया स्त्री रूपा है। इसकी तरफ मुख करने से यह लज्जावश मुख फेर लेती है। परन्तु आपके मुख फेरने पर यह आपके पैरों पर गिरेगी। जहां इस माया को आप पकड़ने गये यह सिकुड़

जायगी और भाग जायगी, आप इसे अपने चित्त से उतार दीजिये, वह आपकी दासी हो रहेगी ।

राम जी सीता को बहुत चाहते थे । यही कारण है कि वह रावण द्वारा हरी गईं, राम के साथ बहुत कम रहीं । गोपियां कृष्ण को बहुत प्यार करती थीं ; यही कारण है कि कृष्ण उनसे दूर हो गये । जानकी स्वयम्वर में जो राजे जानकी पर अत्यन्त आसक्त थे वे धनुष को न तोड़ सके । दुर्योधन राज का बहुत भूखा था, उसके पास राज्य न रह सका । अर्जुन राज्य नहीं चाहता था पर राज्य उसीको मिला । भूखे को मांगने पर भी रोटी नहीं मिलती पर महन्त जी के नहीं नहीं कहने पर भी अशर्फियां पैर पर गिराई जाती हैं । 'नहीं नहीं' में भी एक मोहनी शक्ति है ।

जो आप कर रहे हैं, जो आपका कर्त्तव्य है उसे करते जाइये । फल की ओर इच्छा ले जाना ही पाप है । फल की ओर दृष्टि न डालिये । फल की ओर इच्छा ले जाने से मन में अनेक संशय उत्पन्न होते हैं । संशयात्मा का संशय में इतना समय नष्ट हो जाता है कि वह कार्य पूर्ण कर ही नहीं सकता । संशयात्मा का समय आगा पीछा करने में कट जाता है । ऐसा मनुष्य कर्मवीर नहीं होता । इस अधम संशय की माता, इस की जड़, फलेच्छा है । कृष्ण भगवान ने भी कहा है कि "संशयात्मा विनश्यति ।"

बस, निवृत्ति मार्ग का मतलब कर्म से निवृत्त होना नहीं है, फल से निवृत्त होना है । निवृत्ति मार्ग ही एक ऐसा मार्ग है जो संशय और अज्ञान की जड़ को काट कर मनुष्य को कर्मवीर बनाता है । निवृत्ति मार्गी जो कर्म करता है उसे फल की इच्छा से नहीं किन्तु यह जान कर कि कोई बिना कर्म के एक

क्षण भी नहीं रह सकता, जब तक शरीर है तब तक कर्म करना ही है । फिर जो कर्त्तव्य है, जो प्रवाहपतित रूप से हमारे गले लिपट गया है, उसे क्यों छोड़ें ? क्योंकि कर्मों का न करना हमारे वश में नहीं है । इसे कृष्ण भगवान ने भी अर्जुन से कहा था :—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

—श्लोक ५६ अ० १८ ।

अर्थ :—हे अर्जुन, यदि अहङ्कारवश तुम अपने मन में यह कहो कि हम नहीं लड़ेंगे तो यह चिन्ता तुमारी व्यर्थ है क्योंकि प्रकृति तुम्हें विवश कर युद्ध में अवश्य लगा देगी ।

अतः कल्याण इसी में है कि आसक्तिरहित होकर, फलेच्छा छोड़कर अपना कर्त्तव्य किया जाय । आसक्ति दुख का कारण है । कर्म करो पर कर्मों में आसक्त मत हो । संसार में रहो पर संसार में आसक्त मत हो । यह सफलता का गूढ़ रहस्य है । संसार उसके लिये स्वर्ग है जो संसार को दबाये हुए, संसार को वश में किये हुए, संसार से निर्लेप, आसक्ति से रहित होकर इसमें विचर रहा हो । पानी उसीके लिये सुखमय है जो पद्म-पत्रवत् पानी पर तैर रहा हो । पानी का सुख वह क्या समझेगा जो पानी में डूब रहा है ! उसके लिये तो जलाशय नरक के समान है । जो मक्खी मधु पर अत्यन्त आसक्त होकर गिर पड़ती है, मधु में लिपट जाती है, वह मधु को खा नहीं सकती किन्तु मधु ही उसे खा जाता है—उसका प्राणान्त हो जाता है । मक्खी जाती तो है मधु को पेट में रखने के लिये पर आसक्ति के कारण स्वयम् उसके पेट में चली जाती है । अतः इन बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि निवृत्ति

मार्ग को लोग जैसा समझते हैं वैसा नहीं है। किन्तु निवृत्ति मार्ग ही सच्चा प्रवृत्ति मार्ग है। सच्चे प्रवृत्ति मार्ग से अर्थ यह है कि जिस दोष के कारण विद्वान लोग निवृत्ति मार्ग से घृणा करते हैं वह दोष प्रवृत्ति मार्ग में ही है, निवृत्ति मार्ग में नहीं। आजकल के पढ़े लिखे जिस प्रवृत्ति मार्ग की खोज में हैं वह गुण प्रवृत्ति मार्ग में नहीं है, वह गुण निवृत्ति मार्ग में है। अतः यह सिद्ध होता है कि निवृत्ति मार्ग ही सच्चा प्रवृत्ति मार्ग है। संसार में जो बड़े २ कर्मवीर और महात्मा हो गये हैं वे सब निवृत्ति मार्गी थे, प्रवृत्ति मार्गी नहीं। निवृत्ति मार्गी को अहं-कार नहीं होता क्योंकि बिना अहंकार के त्याग किये, फलेच्छा से कोई रहित नहीं हो सकता। क्योंकि जो यह जानता है कि इस कर्म को हम करते हैं उसे फल की इच्छा भी अवश्य होगी। भगवान कहते हैं तुम कुछ नहीं करते, कर्मों का कर्ता अपनेको न मानो।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

—श्लोक ६१ अ० १८।

अर्थ—हे अर्जुन, वास्तव में कोई प्राणी कुछ नहीं करता। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। वह सब प्राणियों को यन्त्र पर आरूढ़ पुतलीकी तरह अपनी मायासे घुमा रहा है। अर्थात् सब लोगों से वही जो चाहता है कराता है, उसकी माया ही सब को नचा रही है। मायावश, प्रवाहवश, प्रवाहपतित कर्त्तव्य में हम लगे हुए हैं। तथापि भ्रमवश हम यह मानते हैं कि इस कर्म को हम करते हैं, हमने इसका आरम्भ किया है और हम इसे पूरा करेंगे—यही अहंकार कर्मों के फल एवं पुण्य पाप का भागी बनाता है। ईश्वर के पास सब के

कर्मों का हिसाब किताब और बही खाता नहीं रहता। इतने असंख्य मनुष्यों का हिसाब हो भी नहीं सकता। अपना मन ही, अपने भीतर का आत्मा ही अपना पुण्य पाप जानता रहता है। और इस तरह अपनी भावना ही फलवती होती है। "हमने इतना पाप किया है" यह भावना ही आत्मा पर उतने पापों का फल डाल देती है। इस तरह हम पापी हैं, कुकर्मी हैं, हम पवित्र नहीं हैं—हम गीता योग वेदान्त और अच्छे कर्मों के योग्य नहीं हैं—यह भावना ही आत्मा को अवनति के गर्त में डाल देती है। नहीं तो, यदि कर्मों में अहंकार न हो, यदि उसमें यह भाव न हो कि इस कर्म को हम करते हैं—तो वह हजार पाप करकेभी नरक-गामी न होगा। आत्मा की क्रमशः अवनति ही नरक है और वह अहंकार धारण करने से ही होती है। कृष्ण भगवान ने भी कहा है:—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

—श्लोक १७ अ० १८।

अर्थ—जिसकी बुद्धि कर्मों में आसक्त या लिप्त नहीं होती, जिसे यह अहंकार नहीं है कि कर्मों को हम करते हैं—वह इस सारे संसार को भी मार कर न किसी को मारता है, न उसके फल के बन्धन में ही आता है। भावार्थ यह है कि निवृत्ति मार्ग की जड़ अहंकार की निवृत्ति है। कर्मों के फल ही बन्धन के हेतु होते हैं। पर जिसमें अहंकार नहीं है, जिसने अपने तुच्छ अहं-कार का नाश कर दिया है—उसे कर्म के फल बन्धन के हेतु नहीं होते। यहां पर स्मरण रहे कि "अहङ्कार" से अर्थ यहां उस तुच्छ अहङ्कार से है जो स्वरूप के अहङ्कार से पृथक है—जो स्वरूप को भ्रम में डालता है। जैसे, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्री

हूं, मैं बलवान् हूं, मेरे बराबर कोई नहीं है, मैं सब को मार सकता हूं, मेरा सामना कोई नहीं कर सकता, मैं रूपवान और कुलीन हूं—यह सब अहङ्कार है। इस अहङ्कार को त्यागने पर भी एक शुद्ध अहङ्कार रह जाता है। वह शुद्ध अहंकार त्याज्य नहीं है। सर्वथा "अहम्" का नाश होने से तो हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा। चेतन वही है जिसे 'अहम्' का ज्ञान है। जिसमें 'अहम्' नहीं—जिसे यह नहीं मालूम कि हम कुछ हैं, वह 'जड़' है। परन्तु स्वरूपका अस्तित्व रहनेपर भी, स्वरूप का ज्ञान होनेपर भी अपना अस्तित्व प्रत्यक्ष देखने पर भी पूर्वोक्त "स्थूल अहंकार" इस सच्चिदानन्दस्वरूप चेतन में नहीं रह जाता। क्योंकि रात वहां होती है जहां दिन होता है। इसी तरह 'अहम्' वहां होता है जहां 'त्वम्' का अस्तित्व हो। पर जिस समय विद्वानों द्वारा इस मनुष्य को अपने सच्चे और निर्मल स्वरूप का ज्ञान होता है वह अपने को सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वव्यापक सर्वस्वरूप एवं अद्वैत पाता है। वह जान लेता है कि जिनके लिये हम 'त्वम्' का प्रयोग करते थे वे तो हमारे ही रूप हैं—हमारा ही एक अद्वैत आत्मा सब में व्यापक हो रहा है। ज्ञानी को इसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है कि वह ईश्वर, वे जीव, जिन्हें हम अपनेसे पृथक मानते थे उनमें साक्षात् हमीं विराजमान हैं, सारा संसार हमारा स्वरूप है। हमारा ही एक अद्वैत आत्मा संसार के प्रत्येक परमाणु में चमक रहा है। हमारे ही प्रकाश से सारा संसार प्रकाशित है। ऐसा ज्ञान होने पर जिस समय वह सब को अपना रूप समझता है तब किसी कर्म के बन्धन में नहीं आता—उसे किसी कर्म का फल नहीं मिलता। अपने को खिलाने से, अपने को कपड़ा पहनाने से कोई दानी नहीं कहला सकता—न किसीको इसका अहङ्कार ही होगा कि हम दानी हैं।

इसी तरह जो सब को एक समझता है—सब में अपना आत्मा देखता है, वह यदि किसीके साथ भलाई करे तो पुण्य कैसे होगा? क्योंकि पुण्य तो दूसरे के साथ भलाई करने से होता है। इसी तरह यदि पुण्य नहीं होगा तो किसी के साथ बुराई करने से पाप कैसे होगा? पाप उसके पीछे चिपटता है जो पुण्य का इच्छुक होता है—नरक भी उसीको मिलता है जो स्वर्ग का भोग करता और स्वर्ग की इच्छा रखता है। स्वर्ग-नरक या पाप-पुण्य की इच्छा ही कर्म का बन्धन है। यह कर्मबन्धन तब तक निवृत्त नहीं हो सकता है जब तक अहङ्कार रूपी भूत सिर पर सवार है। अहङ्कार की जड़ उखाड़ डालो—अहङ्कार रूपी मल को अपने हृदय से साफ कर दो—अहङ्कार रूपी पर्दे को हटा दो—एकता और आनन्द का सूर्य्य चमक उठेगा। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"—जहां एकता है वहां मोह और शोक कैसा और कर्म का फल कैसा, भगवान कृष्णचन्द्र ने भी कहा है :—

> सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
> अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
>
> —अ० १८ श्लोक २० ।

अर्थ—जितने भिन्न २ प्राणी दिखलाई देते हैं उनमें एक अद्वैत भाव उत्पन्न हो और जिस ज्ञान से वह भिन्नता जो चर्म दृष्टि से दिखलाई दे, उसका नाश हो जाय उसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं।

इस पूर्वोक्त ज्ञान से अहङ्कार का नाश हो जाता है और अहंकार का नाश होने से फल की इच्छा नहीं रह जाती क्योंकि फलेच्छा या नेकी का बदला—मनुष्य तब चाहता है जब वह यह जानता है कि इसे हमने किया है। साथ ही यह भी है कि जो नेकी का बदला चाहता है वह नेकी कर भी नहीं सकता। क्योंकि उसका सब के साथ

झगड़ा हो जाता है। क्योंकि अपनी समझ के अनुसार वह पूरा बदला नहीं पाता। बदले की इच्छावाले का बदले से पेट नहीं भरता। इस तरह उसका मन बदला न पाकर भलाई करने से रुक जाता है। अतः जो कर्म अहङ्कार युक्त किया जाता है गीता के अनुसार वही त्याज्य है, अहङ्कार युक्त कर्म सात्त्विक नहीं माना जाता। गीता ने इसी कर्म को दूषित माना है :—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥

अर्थ—हे अर्जुन, अहङ्कार से या फलेच्छा से जो कर्म किया जाता है उसे राजस कर्म कहते हैं। वह सात्त्विक नहीं है। फिर इसी जगह सात्त्विक कर्म का भी लक्षण कहा है :—

मुक्तसंगोऽनहंवादी, धृत्युत्साह समन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

अर्थ—हे अर्जुन, जो फल की इच्छा से रहित है, जिसमें अहङ्कार नहीं है, जिसका हृदय धृति और उत्साह से भरा है—ऐसा कर्त्ता सात्त्विक है। ऐसे ही कर्त्ता को त्यागी, सन्यासी या निवृत्ति मार्गी कहते हैं। अतः गीता में प्रवृत्ति मार्ग नहीं है-गीता निवृत्ति मार्ग को दिखलानेवाली, एवं सन्यास, त्याग और योग का उपदेश देनेवाली है। गीता में प्रवृत्ति मार्ग का गन्ध भी नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि गीता ने प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। निवृत्ति मार्ग ही सच्चा प्रवृत्तिमार्ग है जिसके अनुसार मनुष्य संसार में प्रवृत्त होकर सफल मनोरथ होता हुआ, संसार का दुर्लभ आनन्द उठाता हुआ, जीवन को शान्तिमय बनाता हुआ, अन्त में मोक्ष पदवी को प्राप्त होता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

श्रीरामकृष्ण के उपदेश।

जिसकी जो भावना होती है, मैं उसकी उसी भावना की रक्षा करता हूं। वैष्णवों को मैं उनका वैष्णव मत और शाक्तों को शाक्त मत ही धारण करने के लिये कहता हूं। पर उनसे यह भी कहता हूं कि किसीसे यह मत कहो कि मेरा ही मार्ग सत्य है और सब मिथ्या हैं।

हिन्दू, मुसलमान और ईसाई भिन्न भिन्न पथों का अवलम्बन करने पर भी एक ही स्थान के पथिक हैं। वे अपनी अपनी भावनाओं की रक्षा करते हैं। हृदय से पुकारने से ही ईश्वर मिलता है।

विजय (गोस्वामी) की सास ने कहा कि बलराम से कह दो कि साकार की पूजा की आवश्यकता नहीं; निराकार सच्चिदानन्द को पुकारने से ही काम चलेगा। मैंने उत्तर दिया, यह बात मैं ही क्यों कहूं और वे लोग ही क्यों सुनेंगे? माँ किसीको मछली भात देती है, किसीको पुलाव बना कर देती है। जिसका पेट गड़बड़ होता है उसको उसके ही योग्य भोजन बना देती है। अर्थात् भोजन रूपी एक ही पदार्थ को अधिकारी और रुचि भेद से नाना प्रकार से बनाकर देती है।

विषयी लोगों का मन गोबर के कीड़े के ऐसा है। गोबर के कीड़े गोबर में ही रहना पसन्द करते हैं, गोबर को छोड़ कर उन्हें यदि और कहीं भी बिठा दिया जाय तो उन्हें वह स्थान पसन्द नहीं आवेगा। अगर जबरदस्ती उन्हें कमल में ही बिठा

दिया जाय तो वे छटपटाकर मर जायँगे। विषयी लोगों का मन भी ठीक इसी तरह का है। विषय चर्चा छोड़ उन्हें और कोई बात पसन्द ही नहीं आती। यदि कहीं ईश्वर की कथा का प्रसंग हो तो वे उस स्थान से उठकर जिस जगह सिर्फ फालतू बातें होती हैं वहीं जा बैठते हैं।

हिन्दुस्तानी स्त्रियां अपने शिर पर पांच चार भरी गगरियां ले जाती हैं। रास्ते में वे अपने परिचितों से सुख दुःख की चर्चा करती और गप्पें भी मारती जाती हैं। पर उनका ध्यान सदा शिर पर की गगरी पर ही रहता है जिसमें कि वह गिर न पड़े। धर्मपथ के पथिकों को भी सब ही अवस्थाओं में ऐसी ही दृष्टि रखनी होगी, मन जिसमें ईश्वर के मार्ग से विचलित न हो जाय।

सूर्योदय के पहले दही मथकर जो मक्खन निकाला जाता है वह जितना उत्तम होता है उतना दिन चढ़े निकाला हुआ नहीं होता। इसी भांति बाल्यावस्था ही में जो ईश्वरानुरागी होते हैं, उसकी आराधना और भजन करते हैं उन्हीं को ईश्वर मिलता है।

पत्थर यदि एक हजार वर्ष तक भी जल में पड़ा रहे तो भी जल उस पत्थर में प्रवेश नहीं कर सकता पर यदि मिट्टी में जल लगे तो वह उसी समय गल जायगी। जो विश्वासी और भक्त हैं वे हजारों वर्ष तक विपत्तियों को झेलने पर भी हताश नहीं होते, किन्तु अविश्वासी मनुष्य का मन एक सामान्य कारण होने से ही विचलित हो जाता है।

वर्तमान भारत ।

(*स्वामी विवेकानन्द*)

वैदिक पुरोहित मन्त्रबल से बलवान थे। उनके मन्त्रबल से देवता आहूत होते और यजमानों को वांछित फल प्रदान करते थे। इससे राजा और प्रजा दोनों ही अपने संसारिक सुख के लिये इन पुरोहितों का मुंह जोहा करते थे। पुरोहितों का उपास्य राजा सोम* मन्त्र से ही पुष्ट होता और बढ़ता था, और इसी लिये सोमाहुति लेनेवाले देवता पुरोहितों पर दयालु थे। देव-बल से इस प्रकार बलवान होकर पुरोहित लोग समस्त मानव-विरोध को तुच्छ समझते थे। देव-बल के ऊपर मनुष्य-बल कर ही क्या सकता है? मनुष्य-बल के केन्द्र राजा लोग भी तो उनकी ही कृपा के भिखारी थे। उन पुरोहितों की कृपा-दृष्टि ही राजाओं के लिये सहायता थी और उनका आशीर्वाद ही राज-कर था। पुरोहित लोग राजाओं को कभी डर दिखा आज्ञायें देते, कभी मित्र बन सलाहें देते, और कभी नीति के जाल बिछा उन्हें फँसाते थे। इस प्रकार उन लोगों ने राजकुल को अनेक बार पूरी तरह से अपने वश में किया है। राजाओं को पुरोहितों से डरने का एक और कारण यह था कि उनका यश और उनके पूर्वजों की कीर्त्ति पुरोहितों की ही लेखनी के आधीन थी। पुरोहित लोग ही तो इतिहास के लेखक थे। राजा कितना ही तेजस्वी और कीर्तिवान क्यों न हो, अपनी प्रजा का मां बाप क्यों न हो, पर वह पुरोहितों को यदि संतुष्ट न कर सका हो तो

* सोम लता का वेदों में आया हुआ नाम।

समुद्र में गिरी ओस की बूंदों की तरह उसकी कीर्ति भी काल-समुद्र में सदा के लिये विलीन हो जाती थी। केवल अश्वमेधादि बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले और ब्राह्मणों के ऊपर धन की झड़ी लगानेवाले राजाओं के नाम इतिहास के पृष्ठोंमें पुरोहित-प्रसाद से जगमगा रहे हैं। देवताओं के प्रिय "प्रियदर्शी धर्माशोक" * का नाम मात्र ब्राह्मण्य-जगत में रह गया है, पर परीक्षित के पुत्र जन्मेजय का नाम बूढ़े जवान सब किसी को मालूम है।

अपने भोग विलास और राज्य की रक्षा के लिये और अपने परिवार की पुष्टि और पुरोहितों की तुष्टि के लिये राजा लोग अपनी प्रजा का धन सदा हरा करते थे। विचारे वैश्य लोग ही इनके शिकार और दुधार गाय थे।

प्रजा को राज्य-कार्य में मतामत प्रकट करने का अधिकार न हिन्दू राजाओं के समय में था और न बौद्ध शासकों के ही समय में। यद्यपि युधिष्ठिर वारणावत में वैश्यों और शूद्रों के घर जाया करते थे, अयोध्या की प्रजा श्रीरामचन्द्र को युवराज बनाने के लिये प्रार्थना करती थी, सीता के वनवास तक के लिये छिप छिप कर सलाहें भी करती थी, तो भी प्रत्यक्ष रूप से प्रजा किसी विषय में मुंह नहीं खोल सकती थी। वह अपने सामर्थ्य को अप्रत्यक्ष और अनवस्थित रूप से प्रकट किया करती थी। उस शक्ति के अस्तित्व का ज्ञान उस समय भी उसे नहीं था। इसीसे समवाय का न उसमें उद्योग ही था और न इच्छा ही थी। जिस कौशल से छोटी छोटी शक्तियां मिलकर प्रचण्ड बल संग्रह करती हैं उसका भी पूरा अभाव था।

क्या यह नियमों के अभाव के कारण था? नहीं। नियम

* बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर अशोक का पड़ा हुआ नाम।

और विधियां सभी थीं। कर-संग्रह, सैन्य-प्रबन्ध, विचार-सम्पादन, दण्ड-पुरस्कार आदि सब विषयों के लिये उचित नियम थे पर सब की जड़ में वही "ऋषिवाक्य दैवशक्ति वा ईश्वर की प्रेरणा" थी। उन नियमों में जरा भी हेर फेर नहीं हो सकता था। ऐसी अवस्था में विचारी प्रजा के लिये कब सम्भव था कि वह ऐसी शिक्षा प्राप्त करती जिससे आपस में मिलकर लोक-हित के काम कर सकती, वा राजकर की तरह लिये हुए अपने धन पर अपना स्वत्व रखने की बुद्धि उसमें उत्पन्न होती अथवा उसके आय व्यय के नियमन करने का अधिकार प्राप्त करने की इच्छा उसमें होती?

फिर यह सब नियम प्रणालियां पुस्तकों में थीं। और पुस्तकों के नियमों में और कार्यों में परिणत होनेवाले नियमों में आकाश पाताल का अन्तर है। ठीक नियमों के अनुसार चलनेवाले राजा कितने होते हैं? सैंकड़ों अग्निवर्णों * के पश्चात् एक रामचन्द्र का जन्म होता है। अनेक राजा जन्म से ही चण्डाशोकत्व + दिखानेवाले होते हैं, धर्माशोकत्व दिखानेवाले कम होते हैं। औरङ्गजेब जैसे प्रजा-भक्षकों की संख्या बहुत और अकबर जैसे प्रजा-रक्षकों की संख्या कम होती है।

* अग्निवर्ण—एक सूर्यवंशी राजा था। यह अपनी प्रजा से मिलता नहीं था। रात दिन अन्तःपुर में ही रहा करता था। अत्यधिक इन्द्रियपरता के कारण उसे यक्ष्मा रोग हो गया और उसीसे उसकी मृत्यु हुई।

+ चण्डाशोक—भारतवर्ष का एकछत्र सम्राट अशोक। इसने ईसा से प्रायः तीन सौ वर्ष पहले राज्य किया था। पहले यह बड़ा दुष्ट और निर्दयी मनुष्य था। सिंहासन पर बैठने पर इसने राज घराने के अनेक लोगों को मार डाला था। इन कुकर्मों के कारण वह चण्डाशोक के नाम से प्रसिद्ध था। राजा होने के आठ वर्ष बाद इसने कलिंग देश पर

रामचन्द्र, युधिष्ठिर, धर्माशोक वा अकबर जैसे राजा हों भी तो क्या? प्रजा की यथार्थ उन्नति ऐसे राजाओं के समय में नहीं होती। किसी मनुष्य के मुंह में जब सदा दूसरा कोई अन्न डाला करता है तो उस मनुष्य की स्वयं हाथ उठाकर खाने की शक्ति शिथिल हो जाती है। जिस की रक्षा सदा दूसरों द्वारा होती है उसकी आत्मरक्षा की शक्ति कभी स्फुरित नहीं होती। लड़कों की तरह पलने से बलवान जवान भी लड़के ही बने रहते हैं। देवतुल्य राजा की प्रजा भी कभी स्वायत्त शासन (Self-government) नहीं सीखती। सदा राजा के आश्रित रहने से वह धीरे धीरे निकम्मी हो जाती है। यही "पालित" और "रक्षित" बहुत दिनों तक रहने से सत्यानाश का कारण होता है।

शास्त्र-विहित और महापुरुषों के बनाये नियमों के द्वारा समाज का शासन राजा, प्रजा, धनी, निर्धन,

चढ़ाई की। एक घमासान युद्ध हुआ जिसमें हजारों मनुष्य खेत रहे। अन्त में उसने उस देश को जीता, पर मरने वालों की दारुण वेदना और रक्त की बही हुई धारा ने उस के हृदय के दो टुकड़े कर दिये। उसको ऐसा दुख और पश्चात्ताप हुआ कि फिर उसने दूसरा युद्ध नहीं किया। उसकी पहली लड़ाई ही अन्तिम लड़ाई हुई। उसका स्वभाव दिन दिन बदलता गया और कुछ ही दिनों बाद उसने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। इस धर्म के प्रचार के लिये उसने कुछ उठा नहीं रखा था। उसने भिक्षुओं को शाम, मिश्र, मकदूनियां आदि दूर दूर स्थानों में भेजकर बौद्ध धर्म का प्रचार तीन महाद्वीपों में अर्थात् एशिया, अफरीका और युरोप में कराया। इस धर्मानुराग और प्रजावत्सलता के कारण यह फिर "देवानां पियो पियदसी" (देवताओं के प्रिय दर्शन) धर्माशोक कहलाया। जिस चन्द्रगुप्त के प्रताप का हाल सुनकर महावीर सिकन्दर भी अपनी भारत-विजय की लालसा पूरी न कर पाया था वह इसका दादा था।

सब को समान लाभ पहुंचा सकता है। पर ऐसे नियम कार्य में कहां तक परिणत हो सके हैं यह ऊपर ही बताया जा चुका है। राजकार्य में प्रजा की अनुमति लेने की पद्धति जो आज कल के पाश्चात्य जगत का मूल मन्त्र है और जिसकी अन्तिम वाणी अमेरिका के शासनपद्धति-पत्र में डंके की चोट से सुनाई गई थी,—"इस देश में प्रजा का शासन प्रजा द्वारा और प्रजा के हित के लिये होगा"—भारत में थी ही नहीं, यह बात भी नहीं है। यवन परिव्राजकों और अन्य लोगों ने बहुत से छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य इस देश में देखे थे। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस बात का उल्लेख कहीं कहीं पाया जाता है। गांव की पञ्चायत में प्रजा-सत्ताक शासन-पद्धति का बीज अवश्य था और अब भी अनेक स्थानों में है, पर वह बीज जहां बोया गया वहां बीज ही रहा, कहीं अंकुरित नहीं हुआ। अर्थात् यह भाव गांव की पञ्चायत को छोड़ कर समाज तक बढ़ ही नहीं सका।

धर्म-समाज के सन्यासियों में और बौद्धों के मठों में इस स्वायत्त-शासन-पद्धति का पूरा विकाश हुआ था। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। नागा सन्यासियों में प्रत्येक मनुष्य के सामाजिक अधिकार को, पंचों की प्रभुता और प्रतिष्ठा को और उनकी समवाय शक्ति के कामों को देखकर अब भी चकित होना पड़ता है।

बौद्ध विप्लव के साथ साथ पुरोहित-शक्ति का ह्रास और राज-शक्ति का विकाश हुआ।

बौद्ध काल के पुरोहित संसार-त्यागी होते थे; मठों में वास करते, प्रपंच और झगड़ों से दूर रहा करते थे। राजाओं को "शापेन चापेन वा" अपने वश में रखने की इच्छा

इन पुरोहितों की नहीं थी। यदि थी भी तो वह पूरी नहीं हो सकती थी ; क्योंकि जिन आहुति-भोजी देवताओं के बल से पुरोहित बलवान थे उनकी ही तो इस समय अवनति हो गई थी। ब्रह्मा और इन्द्र के पद से बुद्धत्व बड़ा ऊंचा पद है। सैकड़ों ब्रह्मा और इन्द्र बुद्धत्व प्राप्त मनुष्य-देव के चरणों पर लोटते थे। और बुद्धत्व में मनुष्य मात्र का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

इस लिये राजा रूपी घोड़े की बाग अब पुरोहितों की मुट्ठी में नहीं रही ; अब यह घोड़ा अपने बल से स्वच्छन्द फिरने लगा। इस युग में शक्ति अब सामगान और याग करनेवाले पुरोहितों में नहीं रही और न छोटे छोटे तन्त्रों पर राज्य करनेवाले क्षत्री राजाओं में। चक्रवर्त्ती सम्राट् ही अब मानवशक्ति के केन्द्र बने। इस समय समाज के नेता वशिष्ठ विश्वामित्र आदि नहीं रहे वरन् चन्द्रगुप्त, अशोक आदि। बौद्धकाल के सार्वभौम राजाओं की तरह भारत का मुख किसीने उज्ज्वल नहीं किया था। इस युग के अन्त में आधुनिक हिन्दु धर्म का और राजपूत आदि जातियों का अभ्युत्थान हुआ। पर इन लोगों के हाथ में भारत का राजदण्ड फिर टुकड़े टुकड़े हो गया। इस बार पुरोहित-शक्ति का अभ्युत्थान राजशक्ति के साथ सहकारी भाव से हुआ।

इस विप्लव के समय पुरोहितशक्ति और राजशक्ति का वैदिक काल से आया हुआ और जैन बौद्धों के समय बहुत बढ़ गया हुआ बैर मिट गया। अब यह दोनों शक्तियाँ मित्रता के सूत्र में बँध गईं। परन्तु अब ब्राह्मणों में न वह तेज ही रहा और न क्षत्रियों में वह बल ही। एक दूसरे के स्वार्थ के सहायक बने। बौद्धों और अन्य विपक्षियों के संहार करने में ही यह दो सम्मिलित शक्तियाँ लगी रहतीं और इसी कारण से प्राय: नष्ट हो गईं। यह

लोग दूसरों का रक्त चूसा और धन हरा करते थे, प्राचीन राजाओं के राजसूय आदि यज्ञों की हँसी उड़ानेवाली नकल किया करते, भाटों और चारणों आदि खुशामदियों के दल से घिरे रहते, और मन्त्र तंत्र के जाल में फँसे थे। इसका फल यह हुआ कि यह लोग पश्चिम से आये हुए मुसलमान व्याधाओं के सहज शिकार बने।

जिस पुरोहितशक्ति की लड़ाई राजशक्ति के साथ वैदिककाल से ही चली आ रही थी, जिस शक्ति के विरोध को भगवान श्रीकृष्ण ने अपने अमानव बल से अपने समय में दबा रखा था, जो पुरोहितशक्ति बौद्धों और जैनों के समय भारत के कर्मक्षेत्र से प्रायः उठ गई थी या जिसने उनके अनुसार ही चलकर अपना दिन काटा था, जिस पुरोहितशक्ति ने मिहिरकुल* आदि राजपूतों के भारत विजय करने पर अपना पहला अधिकार फिर प्राप्त करने के लिये पूरा प्रयत्न किया था, और उसे स्थापित करने के लिये मध्य एशिया से आये हुए कुकर्मी विजातियों के अधीन हुई थी, जिस पुरोहितशक्ति ने उन निरक्षर बर्बरों को प्रसन्न रखने के लिये उनकी घृणित रीतिनीतियों को अपने देश में चलाया था और उन्हें ठगने के लिये मन्त्र तन्त्र की चाल चली थी और इसलिये अपनी विद्या, बुद्धि, बल और सदाचार को खोकर पुण्यभूमि भारत को वाम, वीभत्स, बर्बराचार से ढक दिया था, वही पुरोहितशक्ति पश्चिम से आई हुई आँधी के स्पर्श मात्र से भूमि पर गिर गई ; फिर कभी उठेगी या नहीं यह ईश्वर ही जाने।

(क्रमशः)

अनुवादक— श्रीरघुनाथ सहाय।

* राजपूतों का पूर्व पुरुष।

पुस्तक-परिचय ।

श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेव का जीवन तथा उपदेश ।— प्रकाशक ब्रह्मवादिन क्लब, १० जानसनगञ्ज, प्रयाग । क्राउन आकार, २४६ पृष्ठ । मूल्य १।≈)

भगवान श्रीरामकृष्ण देव का अलौकिक जीवन आजकल के शिक्षित भारतवासियों से अपरिचित नहीं। बल्कि हजारों नरनारियां उनके चरित्र का चमत्कार देखकर, उनकी धर्म-संचारिणी शक्ति का परिचय पाकर, उन्हें अवतार समझते हैं। ऐसे अनुपम उदार चरित्रवाले महापुरुष की जीवनी और चुने हुए उपदेशों के इस संग्रह को प्रकाशित कर ब्रह्मवादिन क्लब ने सारे हिन्दी संसार के लिये बड़े महत्व का काम किया है। पुस्तक का यह दूसरा संस्करण है। पहला संस्करण सत्रह वर्ष पूर्व निकला था, जो कई वर्षों से अप्राप्य हो गया था। आलोच्य पुस्तक के ८० पृष्ठों में परमहंसदेव का जीवन और चरित्र का संक्षिप्त वर्णन है; शेष अंश में उनके ५६० उपदेश दिये गये हैं। पुस्तक की भाषा सरल होनेसे सब किसी के समझने योग्य है। धर्म जैसे गहन अथच परमावश्यक विषय में जो लोग आसानी से पैठना चाहते हैं उन्हें यह किताब एकबार ही नहीं, बारबार पढ़नी चाहिये।

श्रीरामकृष्णदेव का जन्मदिन ज्ञात न होने के कारण उसके सम्बन्ध में लोगों में मतभेद है। रामकृष्ण मिशन के सुयोग्य सेक्रेटरी श्रीमत स्वामी सारदानन्दजी ने अपने अपूर्व बंगला ग्रन्थ "श्रीश्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग" में बहुत खोज करके श्रीरामकृष्ण देव का जन्मदिन ६ फाल्गुन, १७५७ शकाब्द, अर्थात् १७ फरवरी, १८३६ ईसवी ही निर्णय किया है। पुस्तक-लेखकों को इसी तारीख को अपनी पुस्तक में देना चाहिये।

विविध विषय ।

श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम, काशी का बीसवां वार्षिक विवरण ।

इस सेवाश्रम के सात विभाग हैं। १९२० में इन विभागों में किस भांति कार्य हुआ इसका पूरा विवरण निम्नलिखित अवतरणों से ज्ञात हो जायगा।

(क) *सेवा-विभाग*:— आश्रम में रखकर कुल ११११ रोगियों की चिकित्सा हुई जिनमें ७५ काशी की गलियों और घाटों पर दयनीय दशा में पड़े हुए पाये गये थे। इन रोगियों में ४१८ स्त्रियां थीं।

(ख) *औषधि-वितरण-विभाग* :—इस विभाग में कुल १९६७० रोगियों को दवा दी गई। १७१ के पथ्य आदिका भी प्रबन्ध आश्रम के ही द्वारा किया गया। संस्कृत विद्या की केन्द्रस्थली काशी नगरी में भारत के सुदूरस्थित प्रान्तों से अध्ययनार्थ आये हुए विद्यार्थियों का यह आश्रम विशेष ध्यान रखता है। इस वर्ष २०५७ विद्यार्थियों और २५६३ यात्रियों को दवा दी गई।

(ग) *अनाथालय* :—इस विभाग में वृद्ध, काम करने में असमर्थ अनाथ विधवाओं की सेवा का प्रबन्ध है। इस वर्ष २५ ऐसी विधवाओं का भरण पोषण इस विभाग द्वारा किया गया, इनमें १७ तो सर्वथा जर्जर और क्षीण थीं। शेष ८ प्रतिष्ठित घरों की थीं, उन्हें एक कुशल निरीक्षिका के नियन्त्रण में रखकर नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं के साथ साथ लिखने पढ़ने और घरेलू उद्योग धन्धों को शिक्षायें भी दी गई जिनसे वे स्वतंत्र जीविकोपार्जन के योग्य हो जायं।

(घ) *लकवा के रोगी* :—इस विभाग के सञ्चालन के लिये बनारस के डिप्टी कलेक्टर श्रीमान बाबू राधा चरण साहिब ने कुछ आर्थिक सहायता दी है। इस विभाग में इस वर्ष ८ रोगियों की आश्रम में रखकर चिकित्सा की गई।

(ङ) अनाथों की सहायता :—इस विभाग ने अशक्त वृद्धों और प्रतिष्ठित घरों की अनाथ रमणियों को अन्न या रुपये देकर सहायता की। इस वर्ष २१४ को सहायता दी गई जिनमें अधिकांश वृद्धावस्था या रोग के कारण बहुत ही दुःखी और लाचार थे।

(च) विशेष सहायता :—इस विभाग द्वारा विशेष विशेष अवसरों पर भोजन, वस्त्र और आर्थिक सहायता ८०३ मनुष्यों को दी गई। जाड़े के कारण मरणासन्न ५२ मनुष्यों को कम्मल और ओढ़ने दिये गये।

(छ) विद्यार्थी-भवन :—इस भवन में गरीब और असहाय विद्यार्थियों को कृषि, उद्योग धन्धों और लिखने पढ़ने की शिक्षा के साथ नैतिक और धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है। इसका प्रबन्ध एक अनुभवी सन्यासी शिक्षक के हाथ में है।

कहना नहीं होगा कि आश्रम के सभी कार्यों का सुचारुरूप से चलना उसको दी गई आर्थिक सहायता पर ही निर्भर करता है। ऐसी दशा में हमें आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि दानशील धनी सज्जन आर्थिक सहायता के रूप में अपनी महती उदारता का परिचय दे आश्रम के कार्यों में यथाशक्ति प्रोत्साहन करते हुए पुण्य और यश के भागी बनेंगे। सहायता निम्नलिखित पते पर भेजी जानी चाहिये :—सहकारी मंत्री—श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम, लक्सा, बनारस-सिटी।

श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम, कनखल (हरद्वार) का बीसवां वार्षिक विवरण।

आश्रम के द्वारा १९२० में जनवरी से दिसम्बर तक सहायता पानेवालों की पूर्ण संख्या २०३६० रही, जिनमें सभी जाति और स्थान के १२३६७ पुरुष और ७९९३ स्त्रियां थीं। जाति और

धर्मानुसार उनका ब्योरा इस भांति है।—१९३१९ हिन्दु, १९४२ मुसलमान, ४२ ईसाई, ११९५ चमार, १३८ कंजर और डोम, और ७५४ मेहतर। ३१५ रोगियों की आश्रम में रखकर चिकित्सा की गई; शेष को केवल दवा ही दी गई। बृटिश भारत के सभी प्रदेशों तथा देशी राज्यों के रुग्न यात्रियों को आश्रम में टिकने के लिये स्थान दिया गया और आश्रम के कार्यकर्त्ताओं ने यथाविधि उनकी सेवा शुश्रूषा की। आश्रम के वर्धमान कार्यक्षेत्र का पता उसकी स्थापना के प्रथम वर्ष की औषधि-वितरण तथा चिकित्सितों की संख्या की तुलना समालोच्य वर्ष की संख्या से करने पर भली भांति चल जाता है।

स्थानीय अछूत जाति के बालकों में प्राथमिक शिक्षा प्रचारार्थ आश्रम ने एक रात्रि-पाठशाला खोल रक्खी है। इस में किसी प्रकार की फीस नहीं लगती। इस वर्ष इस पाठशाला में ३५ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।

कनखल, हरद्वार में रहनेवाले साधु महात्माओं, तथा विद्यार्थिओं के उपयोगार्थ आश्रम ने एक छोटा पुस्तकालय भी खोल रक्खा है।

औषधालय का वर्तमान भवन रोगियों की वर्धमान संख्या के लिये सर्वथा अपर्याप्त है। आश्रम के अधिकारी नवीन ढंग का एक औषधालय भवन जिस में १० बड़े बड़े कमरे होंगे बनवाने का विचार कर रहे हैं। इस के बनवाने में लगभग १७ हजार रुपये व्यय होंगे। भवन के निर्माण के लिये दी गई सहायता, चाहे उसकी संख्या कितनी ही थोड़ी क्यों न हो, सधन्यवाद स्वीकार की जायगी। सहायता इस पते पर भेजी जानी चाहिये। स्वामी कल्याणानन्द जी, अधिष्ठाता—श्रीरामकृष्ण आश्रम, कनखल, जिला सहारनपुर।

श्री सच्चिदानन्द संघ, तिरुवतीश्वरन पेट, मद्रास

गत छठवीं नवम्बर से स्वामी विवेकानन्दजी के ज्ञानयोग पर अंग्रेजी भाषा में उक्त संघ की ओर से प्रति सप्ताह मयलापुर श्रीरामकृष्ण मठ के अधिष्ठाता श्रीयुत स्वामी शर्वानन्द जी रविवार को प्रातः ८ से १० तक व्याख्यान देते हैं। यह व्याख्यान ट्रिप्लीकेन अन्नदान-समाजम् हाल में होता है। यह व्याख्यान-माला कम से कम छ मास तक जारी रहेगी।

स्वामी विवेकानन्द तामिल स्कूल, कुआला लामपुर।

श्रद्धेय स्वामी अभेदानन्दजी ने गत ८ वीं अक्टूबर को विवेकानन्द तामिल स्कूल के नये भवन की नींव डाली। कुआला लामपुर विवेकानन्द आश्रम के अधिष्ठाता स्वामी विदेहानन्दजी की अध्यक्षता में उक्त स्कूल का प्रबन्ध सुचारु रूप से चल रहा है। यह स्कूल जो संयुक्त मलय स्टेटस में अपने ढंग का प्रथम विद्यालय है, तामिल भाषाभाषी विद्यार्थिओं को जिनकी संख्या इस प्रदेश में आबादी के लिहाज से तीसरी है, उनकी ही मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने के लिये १९१४ में आश्रम-भवन में ही खोला गया था। दिसम्बर १९२० में श्रीरामकृष्ण मठ, बेलूड़ को सौंपे जाने के पूर्व इसका प्रबन्ध एक प्रबन्ध-समिति के हाथ में था। आश्रम का भवन जहां इस समय स्कूल है, भिन्न भिन्न कक्षाओं की पढ़ाई और खेल के लिये उपयुक्त नहीं है। गवर्नमैंट ने इस अभाव की पूर्ति के लिये आश्रम-भवन के पास ही जमीन दे दी है, जिसमें स्कूल-भवन बनने के अतिरिक्त खेल का मैदान भी निकल आयेगा।

स्वामी अभेदानन्द जी का शुभागमन

श्रद्धेय स्वामी अभेदानन्दजी गत १० वीं नवम्बर को अपनी मातृभूमि में लौट आये। गत पचीस वर्षों में स्वामी जी ने वेदान्त के सार्वभौमिक धर्म एवं भारतीय सभ्यता और दर्शन के मूल तत्त्वों का पश्चिम के महाद्वीपों में प्रचार कर स्वमातृ-भूमि तथा उन देशों का जो असीम उपकार किया है वह किसीसे छिपा नहीं है। कलकत्ते के भारतीय निवासियों ने आपका गत दूसरी दिसम्बर को बड़े उत्साह के साथ सार्वजनिक स्वागत किया और चौथी को विद्यार्थिओं की ओर से आप का स्वागत बड़े समारोह के साथ किया गया। दोनों ही अवसरों पर आप के व्याख्यान बहुत ही प्रभावोत्पादक एवं शिक्षावर्धक हुए। युनिवर्सिटी इन्सटिट्युट हाल दर्शकों और श्रोताओं से ऐसा भरा था कि कहीं पैर रखने का भी स्थान बाकी न था।

गत २७ वीं जुलाई को सान फ्रान्सिसको से रवाना होकर आप भारत के प्रतिनिधिस्वरूप पान पेसिफिक एडुकेशनल कान्फरेंस में सम्मिलित होने के लिये अगस्त के दूसरे सप्ताह में होनोलूलू पहुंच गये। आपने उक्त कान्फरेंस में 'शिक्षा' पर एक व्याख्यान भी दिया। इसके बाद आप सिंगापुर ठहरे; वहां भी आपका स्वागत बड़े समारोह के साथ किया गया। वहां से आप स्वामी विदेहानन्द जी के साथ विवेकानन्द तामिल स्कूल की नींव डालने के लिये कुआला लामपुर पधारे, जिसका विस्तृत वर्णन ऊपर दिया जा चुका है। वहां की हिन्दू जनता ने बड़े उत्साह पूर्वक आपका स्वागत किया। संयुक्त मलय स्टेट्स के सेरेम्बन, क्लांग आदि स्थानों में भी आपने जाकर व्याख्यान दिये। १८ वीं अक्टूबर को इन सब स्थानों से होकर आप रंगून पहुंचे।

रंगून की जनता ने आपका स्वागत करके आपकी सेवा में चांदी की रकेबी में रखकर एक अभिनन्दन-पत्र अर्पण किया। रंगून में आपने कई महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये, जिनमें से एक का विषय था "बुद्धदेव का सन्देश"।

आज कल स्वामी जी श्रीरामकृष्ण संघ के मुख्य केन्द्र बेलूड़ मठ में विराज रहे हैं।

स्वामी परमानन्द जी का व्याख्यान

गत १० वीं अक्टूबर को वाशिंगटन और बोस्टन की वेदान्त सभा के अधिष्ठाता स्वामी परमानन्द जी ने बोस्टन के 'अप्लाइड साइकालोजी क्लब' के सम्मुख स्टेनर्ट हाल में व्याख्यान दिया। श्रोताओं की उपस्थिति अच्छी थी। स्वामी जी के व्याख्यान को श्रोताओं ने इतना अधिक पसन्द किया कि जब उन्होंने अपना व्याख्यान समाप्त किया तो उनसे थोड़ी देर और बोलने की प्रार्थना की गई। व्याख्यान समाप्त होने पर कई प्रश्न भी किये गये। आपके व्याख्यान का विषय था "एकाग्रता का रहस्य"। व्याख्यान का इतना प्रभाव पड़ा कि बहुत से श्रोता आपके उपदेशों से लाभ उठाने के लिये वेदान्त केन्द्र में नियमपूर्वक आते लगे हैं। अक्तूबर में भी सदा की भांति दो रविवारों को उपासना आदि और मङ्गलवार को पढ़ाई हुई।

श्रीरामकृष्ण महोत्सव।

आगामी ५ वीं मार्च रविवार को श्रीरामकृष्ण मठ बेलूड़ (हवड़ा) और उसके शाखा मठों में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव का ८७वां जन्मोत्सव मनाया जायगा। भक्त जनों की उपस्थिति प्रार्थनीय है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

—गीता।

वर्ष १] सौर फाल्गुन, सं० १६७८ [अङ्क २

श्रीरामकृष्ण के उपदेश।

निर्जन स्थान में गये बिना कठिन रोग कैसे अच्छा होगा? रोग तो है सन्निपात, और जिस घर में सन्निपात रोगी है उसी घर में इमली का अचार और पानी का कुण्डा! स्त्रियाँ पुरुषों के लिये इमली के अचार के समान हैं और भोग-वासना जल के कुण्डे के समान है। इससे क्या रोग अच्छा हो सकता है? पूर्व स्थान को छोड़, कुछ दिनों के लिये निर्जन स्थान में जाकर साधना और भजन करना चाहिये। इसके बाद निरोग होकर फिर उसी घर में रहने से कोई भय नहीं रहता।

एक दिन एक भक्त लड़के ने परमहंस देव से पूछा कि हे महाराज! काम किस भाँति दबाया जाय? श्रीरामकृष्ण ने हँसकर उत्तर दिया कि सब स्त्रियों को माता की तरह देखना और उनके मुँह की ओर न देखकर पैर की ही ओर देखना चाहिये। इससे सब खराब भावनायें भाग जायंगी।